

आर्थिक संकट के सवालों का सामाजिक जवाब पातालकोट की आदिवासी दुनिया



{पातालकोट से लौटकर सचिन कुमार जैन¹}

मध्यप्रदेश के छिंदवाड़ा जिला मुख्यालय से 78 किलोमीटर दूर बसे गावों के इस संगठित क्षेत्र में प्रमुख रूप से रातेड़, चिमटीपुर, गुज्जा डोंगरी, सहरापछगोल, हर्षा का छर, सूरबाभंड, धोरनीमालिनी, झिरन, पालनी, गोलडुब्बा, घटलिंगा, गुड़ी छतरी, गोलडुब्बा-करियाम, घाना आदि गांव बसे हुये हैं।

यह आज भी मौजूद आदिवासी सभ्यता का प्रमाण है जिससे पता चलता है कि भारिया और गोंड आदिवासियों ने किस तरह जीवन की तकनीक को प्रकृति और प्राकृतिक संसाधनों के साथ बना है।

उनका घर, भोजन, आजीविका, संस्कृति, परम्परा और स्वास्थ्य पूरी तरह से जंगल और प्राकृतिक संसाधनों से संचालित होते हैं। अब इस समाज पर आधुनिक विकास की प्रकृति विरोधी प्रक्रियाओं के कारण नये संकट छाते हुये दौर ब रहे हैं।

पूरी दुनिया पिछले डेढ़ सालों से आर्थिक मंदी के प्रकोप से ऐसी डगमागाई कि विश्व भर में भूखे पेट सोने वाले परिवारों की संख्या में 3 करोड़ नये परिवार जुड़ गये। लोगों के पास न पैसा रहा, न पैसा आने के साधन और जिनके पास मुद्रा रही भी, उसका मूल्य बेहद कम होता चला गया। पहले जो लोग 20 रुपये में भरपेट खाना खा पाते थे, उनके लिये मंदी का मतलब था थाली का आधा खाली हो जाना। इसी दौर में पातालकोट के 2800 से ज्यादा भारिया और गोंड आदिवासी

¹ स्वतंत्र लेखक एवं विकास संवाद से संबद्ध – Contact - 09977704847 / sachinwrites@gmail.com

यह सिद्ध कर रहे हैं कि इस मंदी का प्रभाव उनकी प्रकृति और सामाजिक समन्वय आधारित अर्थ व्यवस्था पर नहीं ही पड़ रहा है। दुनिया भर में पूरी तरह भूखे पेट सोने वाले 100 करोड़ लोगों में आज भी पातालकोट का आदिवासी शामिल नहीं है। मतलब यह है कि आज भी इन आदिवासी परिवारों की जिन्दगी की दो-तिहाई से ज्यादा बुनियादी जरूरतें स्थानीय संसाधनों से पूरी हो जाती हैं तो फिर बाजार के जाल में हम क्यों फंसे!! इतना ही नहीं मानव जीवन एवं पर्यावरण के परस्पर समन्वय का यह सजग उदाहरण है।

मध्यप्रदेश के छिंदवाड़ा जिले में सतपुड़ा की पर्वत श्रृंखलाओं के बीच जमीनी सतह से लगभग 3000 फिट की गहराई तक बसे होने के कारण इस इलाके को पातालकोट कहा जाता है और गैलडुब्बा गांव को इस पातालनुमा और अब भी एक हद तक इस अदभुत अछूती दुनिया का एक प्रवेश द्वारा माना जा सकता है। जिसके बारे में अब से कुछ सालों पहले तक यह मान्यता थी कि धरती की सतह से कई सौ मीटर नीचे बसे इन गांवों तक सूरज की रोशनी भी नहीं पहुंचती है। यह तो बहरहाल सच नहीं है परन्तु यह जरूर एक सच्चाई है कि 1970 के दशक तक पातालकोट में बसे 12 गांवों के गोंड और भारिया आदिवासी परिवार जंगली बेलों के झूले बनाकर कभी-कभार धरती की सतह पर बसी दुनिया तक आते थे और 1980 के अंत में पहली बार यहां रातेड़ गांव तक पहुंचने के लिए सरकारी स्तर पर सीमेंट की सीढ़ियाँ बनी थी। इस क्षेत्र को बौने लोगों की दुनिया की प्रचलित कहानी का केन्द्र भी कहा जाता रहा, क्योंकि जब ऊँचाई पर बसे समाज के नजरिये से जब उन्हें देखा गया तो वहां (पातालकोट के गांवों के) आदिवासी दूरी के कारण बौने ही नजर आते थे और इसी कारण यह मान्यता बन गई। बहुत सी बातें कहीं गईं, बहुत सी बातें सुनी गईं परन्तु सच तो तभी पता चलता है जब आप पातालकोट की उन गहराइयों में उतरकर एक निरपेक्ष मन के साथ उस समाज को करीब जाकर महसूस करते हों, उसे समझते हों। उन्हें अपने अनाज और बीज संग्रहीत करने के लिये वातानुकूलित संयंत्र की जरूरत नहीं पड़ती है, सैंकड़ों सालों से पूस और घास के ढांचे में इन्हे सुरक्षित रखते आये हैं।



विकास की परिभाषा के तहत पिछले 6 दशकों में पूरी दुनिया पर एक ही परिभाषा थोपने की कोशिश हुई और उसकी खिलाफ़त करने वाली हर आवाज को दबा दिया गया। विकास और संघर्ष की जद्दोजहद के बीच पातालकोट में भारिया आदिवासी समुदाय ने प्रकृति और प्राकृतिक संसाधनों के साथ अपने जीवन को जोड़कर रखते हुये यह सिद्धान्त पुर्नस्थापित किया है कि अपनी जरूरतों का असीमित विस्तार किये बिना जीवन को आनंद के साथ जिया जा सकता है। पातालकोट के एक गांव जड़ तक पहुंचने के लिये आपको पहाड़ी, ढलाऊ, संकरे और घने जंगल के बीच बनी पगडंडियों से गुजरना पड़ता है। दूर-दूर तक आसपास कोई समतल जमीन नहीं नजर आती है, वहां तक्षशिला रहती है अपने परिवार के साथ। थोड़ी सी खेती है परिवार में, घर के आसपास सब्जी उगती है, जंगल से चिरौंजी, महुआ और शहद मिलता है, पानी का चूंकि समाज ने यहां दुरुपयोग नहीं किया इसलिये भू-जल भी पर्याप्त है। तक्षशिला कहती है हमें गाड़ी और टीवी नहीं चाहिये, हम तो वैसे ही खुश हैं, सुखी हैं। पर वह एक सवाल पूछती है संशय के साथ कि आप लोग यहां क्यों आये हो? एक भयभीत कर देने वाला आगमन !!

विकास और विकास की जरूरत पर बहुत बहसें हुई हैं कि क्या आकाश छूती सीमेंट-लोहे की अट्टालिकाओं का निर्माण, चिकनी सड़कों के लिए जंगलों की बदहवास कटाई, ठण्डक के लिए वाहन, दफ्तर और घरों में लगने वाला वातानुकूलित यंत्र (जो भीतर तो ठण्डक देते हैं पर इन यंत्रों का पिछवाड़ा जहरीली गैसों को पूरे वातावरण में फैलाते हैं और पर्यावरण के लिये बड़ा खतरा बन रहा है), कभी न खत्म होने वाली अमीर बनने की हिंसक प्रतिस्पर्धा ही विकास के आयाम हैं? इस बहस को जड़ जैसे गांव में आकर यह कहकर विराम दिया जा सकता है कि नहीं, यह विकास नहीं है!! आधुनिक विकास का मतलब उस बाजारवादी समाज का विकास है जो अपनी जरूरतों का असीमित विस्तार कर रहा है और फिर उन्हें पूरा करने के लिये ऐसे तरीके-साधन अपना रहा है कि जिनसे पूरी दुनिया के लिये खतरे पैदा हो गये हैं। ऐसे समाज के लोगों को अपने जड़ में देखकर तक्षशिला जैसी कोई भी आदिवासी महिला भयभीत होगी ही!!



79 वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल में बसे पातालकोट की अपनी एक खास अर्थव्यवस्था है। जिसके बारे में सिधौली गांव के प्रताप भारती (भारिया) बताते हैं कि यहां के जंगलों में 250 से ज्यादा किस्म की औषधियाँ और औषधीय पौधे पाये जाते हैं। ये तो वे पौधे हैं जिन्हें हम जान पाये हैं। इस जंगल में हर कुछ एक संपदा है। हमारे समाज के जानकार इन औषधीय वनस्पतियों से 42 बीमारियों का इलाज करने में सक्षम हैं। फिर यहां वर्ष 1997 से काम कर रही संस्था मध्यप्रदेश विज्ञान सभा के डॉ. अजय खरे कहते हैं कि स्वास्थ्य की यह पारम्परिक व्यवस्था बेहद महत्वपूर्ण है

क्योंकि पूरी दुनिया में आधुनिक स्वास्थ्य सेवाओं पर समाज को सबसे ज्यादा खर्च करना पड़ रहा है। कई बार तो यह लगता है कि हमारे तथाकथित मुख्यधारा के समाज में लोग बेतहाशा कमाते इसलिए हैं कि वे इलाज करा सकें पर पातालकोट के आदिवासियों के समाज में ही यह ज्ञान है। आमतौर पर इलाज की जिम्मेदारी निभाने वालों को यहां भुमका कहा जाता है और हमने कोशिश की है कि इस पारम्परिक ज्ञान को थोड़ा व्यवस्थित और वैज्ञानिक बनाया जाये क्योंकि कई बार अंधविश्वास और पारम्परिक वैज्ञानिक ज्ञान के बीच का अंतर खत्म होता दीखता है, इस अंतर को हम इसी समाज के सामने ला रहे हैं।

वे जंगल के पूजते हैं, और कहते हैं कि जब प्रकृति और जंगल हमारे पास है तो चारदीवारी में सम्पत्ति इकट्ठा करने का कोई मतलब नहीं है। जहां तक पारिवारिक अर्थव्यवस्था का सवाल है यहां का आर्थिक और प्राकृतिक व्यवस्था चक्र बेहद रोचक है। ये आदिवासी पूरी तरह से जंगल पर निर्भर होकर जी सकते हैं, ऐसा लगता है। जनवरी-फरवरी-मार्च में उन्हें हर्षा-आंवला मिलता है जंगल से फिर अप्रैल तक महुआ का संग्रहण होता है, अप्रैल तक माहुल के पत्ते [पत्तल-दोने बनाने के काम आने वाले] इकट्ठे होते हैं, जून में महुये का बीज मिलता है, फिर अक्टूबर तक शहद और दिसम्बर तक इमली इकट्ठा होती है।



महुआ पातालकोट के समाज और अर्थव्यवस्था में बेहद अहम् भूमिका निभाता है। सामान्यतः महुआ की जब भी बात होती है तो गैर आदिवासी समाज के सामने एक ही तस्वीर और मन में एक ही परिकल्पना उभरकर आती है - जंगल में रहने वाला आदिवासी समाज महुये की शराब बनाता और पीते रहने वाला समाज है। उनका काम है पीना और जीना। पर सच यह है कि आधुनिक अर्थव्यवस्था ने केन्द्रीयकृत सिद्धान्तों और मुद्रा के प्रभुत्व ने प्राकृतिक संसाधन आधारित अर्थव्यवस्था की सामाजिक मान्यताओं को तहस-नहस करने की कोशिश की है। पातालकोट में पता चलता है कि प्रकृतिक आधारित अर्थव्यवस्था किसी समाज के लिये कितनी महत्वपूर्ण हो सकती है। प्रताप भारती बताते हैं कि महुआ केवल शराब का साधन नहीं है यह एक पोषक तत्व है और हमारे समाज की खाद्य व्यवस्था का महत्वपूर्ण हिस्सा है। डॉ. अजय खरे के मुताबिक *विज्ञान सभा के विगत 12 वर्षों के अध्ययन में हमने यही पाया है कि महुआ पातालकोट में खाद्य सुरक्षा का स्रोत तो है ही, उनकी आय में भी इसकी अहम् भूमिका है।*

महुआ आमतौर पर मार्च के महीने में अल-सुबह अंधेरे में इकट्ठा किया जाता है क्योंकि सूर्योदय के बाद जानवर इसे खा जाते हैं। ऐसे में जरूरी होता है कि लोग रातभर में गिरे हुये महुये को सुबह चार बजे के आस-पास इकट्ठा करना शुरू करें और 4-5 घंटे में अपना काम पूरा कर लें। इसे छांव में सुखाया जाता है और फिर इसकी किशमिश बनती है। आदिवासी इसे कई तरीकों से उपयोग में लाते हैं। पहले बिचौलिये 4-5 रुपये किलो के हिसाब से आदिवासियों से महुआ खरीद लेते थे, पर अब थोड़ा संगठित होने के बाद और संस्थागत प्रयास होने से उन्हें तीन से चार गुना ज्यादा कीमत मिल रही है। अध्ययन से पता चलता है कि पातालकोट में महुआ के लगभग सवा दो हजार पेड़ हैं जिनसे लगभग 500 क्विंटल महुआ निकलता है जिसकी कीमत लगभग 7 लाख रुपये के आसपास होती है।



चौंकिये मत, यह जानकर कि जिस मशरूम को हम अपने शहरों की बड़ी होटलों या बाजार में पिछले 6-8 सालों से महंगे पकवान के रूप में देख रहे हैं, वह मशरूम सैकड़ों सालों से भारिया आदिवासियों की भोजन की थाली में सजता रहा है वह भी एक-दो तरह के नहीं बल्कि कई तरह के मशरूम। इसी तरह जड़, मादल, रातेड़, सीझोड गांव ऐसे हैं जहां शहद की उपलब्धता भी बड़ी मात्रा में है। भारिया आदिवासी बरसों से शहद इकट्ठा करते रहे हैं पर विज्ञान सभा ने शहद संग्रहण का काम न केवल वैज्ञानिक बनाने में मदद की बल्कि उसे उनकी आजीविका का हिस्सा भी बनाया। पहले आदिवासी आग जलाकर मधुमक्खी के छतों से शहद निकाला करते थे परन्तु अब एक विशेष वेशभूषा पहलकर मधुमक्खी और उनके छत्ते को बिना नुकसान पहुंचाये वे शहद इकट्ठा कर लेते हैं। इसका फायदा यह हुआ कि अब एक ही छत्ते से वे तीन-चार बार तक शहद निकाल लेते हैं और मधुमक्खियों के वहीं रहने के कारण परागण में भी कोई कमी नहीं आती है जिससे खेती, पर्यावरण और जंगल का संरक्षण भी होता है। आमतौर पर शहद निकालने का काम वर्ष में दो बार (मई-जून और सितम्बर-अक्टूबर में) होता है।

सतपुड़ा के इन जंगलों में चिरौंजी (अचार) के वृक्षों की भी अच्छी-खासी संख्या है और इसके भाव हममें से ज्यादातर को पता है परन्तु पातालकोट की अर्थव्यवस्था में चिरौंजी केवल बाजार में बिकने वाला मेवा नहीं है बल्कि प्रकृति के प्रति सम्मान का प्रतीक भी है। यहां सामाजिक रूप से यह तय किया गया है कि हर परिवार का, जो चिरौंजी इकट्ठा करते हैं, 15 से 40 चिरौंजी के पेड़ों

पर अधिकार होता है। वही परिवार उन पेड़ों की चिरौंजी इकट्ठा कर सकता है ताकि समानता रहे और विवाद न हो। इतना ही नहीं उन सारे पेड़ों के संरक्षण-देखभाल की जिम्मेदारी भी उन्हीं परिवारों की होती है। इस साल यह तय है कि उन्हें पर्याप्त मात्रा में चिरौंजी मिलेगी। घटलिंगा के क्षेत्र में आप खूब खट्टी-खट्टी इमली देख सकते हैं जो अक्टूबर से दिसम्बर के महीनों में इकट्ठा की जाती है। जंगलों से ही इन परिवारों को कई तरह के फल और कंदमूल भी मिलते हैं। एक आंकलन के मुताबिक पातालकोट में इस प्राकृतिक अर्थव्यवस्था से एक परिवार लगभग 8 से 12 हजार रुपये की मुद्रा तो अर्जित कर ही लेता है साथ ही अपने परिवार की इससे दो-गुनी जरूरतें भी पूरी कर लेता है। यह एक औसत आय है।

खाद्य सुरक्षा एक अहम् मसला है। एक दशक पहले तक इस पूरे इलाके के कुल उत्पादन में केवल 2 प्रतिशत हिस्सा गेहूं का हुआ करता था परन्तु घटलिंगा और गुढ़ी छतरी की जमीन और पानी की उपलब्धता को देखते हुये यहां गेहूं के उत्पादन को प्रोत्साहित किया गया, आज 368 परिवारों में 210 से ज्यादा परिवार गेहूं का उत्पादन कर रहे हैं। स्थानीय विविधता और पर्यावरण हमेशा महत्वपूर्ण है यह कहते हैं डा. अजय खरे। वे बताते हैं कि हमने गेहूं के साथ-साथ अरण्डी और सब्जियों को उत्पादन को बढ़ावा देने की कोशिश की। अब हर जगह गेहूं और सब्जी का उत्पादन हो रहा है पर स्थानीय व्यवस्था के अनुरूप न होने के कारण अरण्डी को बढ़ावा नहीं मिला, एक साल बाद उसका उत्पादन बंद हो गया। उनकी जीवन शैली ऐसी नहीं है जो कार्बन डाईआक्साइड या ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन करती हो। वे ऐसे तौर तरीके अपनाते हैं जिनसे पर्यावरण का सामाजिक संरक्षण होता है।

आज पातालकोट के भारिया और गोंड आदिवासियों की भोजन व्यवस्था में गेहूं, मक्का, कनकी, अरहर, कुटकी अनाज के रूप में और बल्लर, कद्दू, कुम्हड़ा, रेधू, कुंदरू, चिरौटा, रिरुआ, भूरा जैसी सब्जियाँ शामिल हैं। ये सब्जियाँ पहले यहां इतनी नहीं थी पर विज्ञान सभा ने इन्हे बीज और तकनीक देकर उत्पादन को प्रोत्साहित किया। आज हर आदिवासी परिवार सब्जियों का अपने लिये उत्पादन करता है। यह व्यवस्था उन्हें विभिन्न किस्म के पोषक तत्व प्रदान करती है। शायद इसीलिये यहां कोई भी परिवार ऐसा नहीं है जो रात में भूखा सोता हो। कुंदरू और मुनगा उनके पोषण को ऊंचा स्तर प्रदान करते हैं। कई वैज्ञानिक अध्ययनों से पता चला है कि पातालकोट के जंगल और खाद्य सुरक्षा के साथ इसके जुड़ाव से आदिवासियों को लिनोलेनिक एसिड, प्रोटीन और माइक्रोन्यूट्रियेंट (जैसे- कैल्शियम, फास्फोरस, पोटेशियम, मैग्निशियम, जिंक, कॉपर और ऑयरन) पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं। वहीं दूसरी ओर हमारे देश में इन तत्वों की कमी कुपोषण का बड़ा कारण है। वे मांसाहारी हैं और



बकरी, मुर्गे, भेड़ जैसे जानवरों को अपनी थाली तक ले आते हैं। पेज उनका अहम् तरल भोजन है। जिसमें वे चावल का भात, कुटकी, समा मिलाते हैं और दही का मट्ठा मिलाकर बनाते हैं। किसी समय में केवल यही उनका भोजन होता था परन्तु अब अनाज सहित अन्य ठोस पदार्थ भी उनके भोजन के अहम हिस्से हैं। प्रोटीन के लिए वे बल्लर की दाल का सतत् उपयोग करते हैं। खाने के तेल के रूप में महुये की गुल्ली का तेल उपयोग में लाते हैं। ऐसा नहीं है कि यह विश्लेषण किसी और जमाने का या किसी और काल का है। यह आज की स्थिति है। फिर भी किसी भी अन्य समाज की तरह संरचनात्मक और ढांचागत विकास तो इनका भी एक बड़ी जरूरत है।

रातेड़ पंचायत के पंच भगलू भारती बताते हैं कि पिछले 15 सालों में हमने यहां बहुत कुछ बदलते देखा है। पहले सड़क नहीं थी पर वर्ष 1998 में जब मेरी पत्नी को प्रसव में इसलिये समस्या का सामना करना पड़ा क्योंकि सड़क न होने के कारण हम उसे अस्पताल न ले जा सके। तब हमने यह तय किया कि सरकार चाहे-न-चाहे हम सड़क बनाएंगे। 26 जनवरी 1998 को पहली बार गैलडुब्बा गांव में गणतंत्र दिवस मनाया गया और उसी दिन गांव वालों ने मिलकर सड़क बनाना शुरू किया। इसके बाद उसी वर्ष पहली बार पातालकोट में स्वतंत्रता दिवस मनाया गया। वर्ष 1998 के पहले न तो वहां गणतंत्र दिवस मना था न ही स्वतंत्रता दिवस। कुछ चिंतार्ये भी हैं। भगलू चिंता जताते हैं कि बाहरी दुनिया के साथ ज्यादा जुड़ने का प्रभाव स्थानीय व्यवस्था पर पड़ रहा है। जैसे नई पीढ़ी अपने पारम्परिक ज्ञान को अपने हाथ में लेने को इच्छुक नहीं दिखाती है। कई लोग अब शहर जाने लगे हैं जिससे खर्चे बढ़ रहे हैं। मोटे तौर पर हमें आज अपनी एक-तिहाई जरूरतों को पूरा करने के लिये ही मुद्रा की जरूरत पड़ती है परन्तु लगता है कि यह हिस्सा बहुत तेजी से बढ़ेगा क्योंकि विकास के साथ-साथ ठेकेदारों, व्यापारियों की दखलंदाजी भी बढ़ रही है। सरकारी तंत्र ने वहां ठेकेदारी को बढ़ावा दिया है जिससे इलाके के जंगल खत्म हो रहे हैं और जंगल खत्म होने से औषधीय परम्परा और जैव विविधता भी खत्म हो जायेगी। भगलू कहते हैं कि दुख इस बात का है कि वन विभाग और ठेकेदार आदिवासियों से ही जंगल कटवाते हैं। सिधौली के टेकचंद ने 5 महीने तक बांध बनाने वाले कार्यक्रम में मजदूरी की पर उसका भुगतान ही नहीं किया गया। आदिवासी दूसरे व्यक्ति पर विश्वास करता है परन्तु व्यवस्था की चालबाजियों ने उसके विश्वास को तोड़ा है। पिछले दो वर्षों में यहां तपेदिक (टीबी) से दो मौतें हुई हैं और मलेरिया के मामले बढ़ रहे हैं, जो कि विकास की प्रक्रिया के समाज और पर्यावरण विरोधी होने के साफ संकेत हैं।

भगलू भारती कहते हैं कि प्राकृतिक संसाधनों पर अधिकार के साथ-साथ यदि हमें स्कूल, स्वास्थ्य और सड़क की सुविधायें मिल जायें तो हम विकास के सबसे सार्थक (ऊंचे नहीं) स्तर पर होंगे। इस जंगल और इस दायरे से हम बाहर नहीं जाना चाहते हैं क्योंकि हमारा मन इन व्यवस्थाओं से

लगा हुआ है और मन को दुखाने वाला विकास तो बेकार है। कुछ मसले अब बड़े बनने लगे हैं। जिनमें से सबसे चिंताजनक है जंगल का कटना। विकास और संसाधनों के विस्तार के नाम पर पातालकोट के जंगल कटने लगे हैं यदि ऐसा चलता रहा तो प्रकृति-समाज के सम्बन्धों पर रची-बसी इस अद्भुत दुनिया का अंत हो जायेगा। इस व्यवस्था को बचाये रखना इसलिये भी जरूरी है क्योंकि कल जब हम अपनी विकास की परिभाषा से पलटकर देखना चाहेंगे तो कम से कम पातालकोट तो होगा हमें यह दिखाने के लिए। एक समय में पातालकोट का जंगल इतना सघन था कि लोग यह मान ही नहीं पाये जैसे वहां एक पूरी सभ्यता निवास करती है, पर अब बहुत कुछ बदल रहा है यहां।